ऋग्वेद-संहिता में भाषा-दर्शन

आचार्यः शिवनारायणशास्त्री

ऋग्वेद-संहिता विषय की दृष्टि से स्तुति-साहित्य है[1] । अतः भाषा-चिन्तन इस का प्रति-पाद्य नहीं है । परन्तु साहित्य की यह एक विशेषता होती है कि यह उन बहुत-सी अन-कही कहानियों[2] को भी कह देता है, जिन्हें कहना शायद वक्ता ने भी आवश्यक नहीं समझा हो । भाषा-चिन्तन भी उन्हीं अन-कही कहानियों में से एक है ।

भारतवर्ष में भाषा-चिन्तन के आदि-काल की कल्पना कर पाना कठिन है । ऋग्वेद-संहिता (शाकल शाखा) में सङ्कलित ऋचाओं के प्रणयन के समय तक 'भाषा' के बारे में चिन्तन दार्शनिक और व्युत्पत्ति की दृष्टि से पर्याप्त विकसित हो चुका प्रतीत होता है । इस निष्कर्ष का आधार ऋचाओं की भाषा के बहुत समर्थ, परिष्कृत और संस्कार-सम्पन्न होने के अतिरिक्त निम्न दो बातें हैं :-

(१) ऋग्वेद-संहिता में बहुत-से ऐसे प्रासङ्गिक कथन हैं, जिन से ऋषियों की भाषा-सम्बन्धी धारणाओं पर अनायास प्रकाश पड़ता है। अर्थात् ये कथन भाषा के दार्शनिक अध्ययन की किसी सामान्य या विशेष अवस्था के आधार के बिना सम्भव ही नहीं प्रतीत होते।

(२) इस में बहुत-से ऐसे जान-बूझ कर किये गये भाषिक प्रयोग हैं, जिनमें अनुप्रास के अलावा अर्थ की दृष्टि से चमत्कार व्युत्पत्ति की दृष्टि से किये गये भाषा के चिन्तन से ही सम्भव है। अर्थात् इन प्रयोगों में इन के अन्तरागत पदों के व्युत्पाद्य-व्युत्पादक सम्बन्ध का ज्ञान अनायास हो जाता है ।

प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में हम प्रथम आधार पर ऋग्वेद-संहिता में भाषा के दार्शनिक चिन्तन पर और दूसरे अध्याय में दूसरे आधार पर व्युत्पत्ति- सम्बन्धी चिन्तन पर विचार करेंगे ।

भाषा के पर्याय : ऋग्वेद-संहिता में भाषा के लिये सर्वाधिक प्रचलित शब्द 'वाक्' है । इसके अतिरिक्त 'गिर', 'अघ्न्या', 'गो', 'सूनृता' और 'वाणी' शब्द भी इस अथं में प्रयुक्त हुए हैं। 'वाक्' शब्द 'कहना', 'बोलना', अर्थ वाली √ वच् से कर्म-वाच्य में निष्पन्न है[3]। यह बोली जाने के कारण 'भाषा' का पर्याय है। अतः 'वाक्' 'शब्द' है । "गिर् 'स्तुति करना" अर्थ वाली √ गृ (पाणिनि : √गृ) से करण में और 'बोलना' अर्थ में कर्म-वाच्य में निष्पन्न है[4] एवं "वाच्" का पर्याय है । 'अघ्न्या' शब्द 'न+√ हन्' के योग से अर्हार्थीय 'कृत्य' प्रत्यय से निष्पन्न है और इस का अर्थ है : 'अ-हन्तव्या,' अर्थात् अनश्वर । कतिपय बार[5] प्रयुक्त अक्षर' शब्द इसी आशय को दूसरे शब्दों में प्रस्तुत करता है, 'अ-घ्न्या' शब्द वैदिक भाषा में गाय के लिये भी प्रसिद्ध रहा है[6] । 'वाक्' की कल्पना अर्थ-रूपी दूध को देने

---

[1] वस्तुतः 'ऋच्' का अर्थ ही स्तुति होता है। द्रष्टव्य : **'बृहस्पतिः सामभिर्ऋक्वो अर्चतु ।'** (ऋग्वेद-संहिता १०।३६।५), **'अर्चा मरुद्भिर्ऋक्वभिः।'** (ऋ. ५।५२।१)। **'ऋगर्चनी'** (तिरुक्त १।८) ओर निघण्टु ३।१४।

[2] व्यक्तित्व, इतिहास, संस्कृति, समाज, दर्शन, ज्ञान का विस्तार आदि की दृष्टि से अध्ययन इन्हीं कहानियों को स्पष्ट करने के लिये किया जाता है ।

[3] .द्र. ऋ. ९।९५।५ : **इष्यन्वाचमुप-वक्तेव होतुः** | तुलना करें ऋ. १।४०।६ : **तमिद् वोचेमा विदथेषु शम्भुवं मन्त्रं देवा अनेहसम्, इमां च वाचं प्रति-हर्यथा नरो....**। निरुक्त २।२३ : **वाक् कस्मात् ? वचेः** । "निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २४३, भी देखें ।

[4] करण में द्र. ऋ. १।९।९ : **गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्** । और वहीं ४।१०।४; ५।८।४, ५३।१६; ६।१५।७, ४४।१३; ८।४६।३, ५४।१; ९।२९।२ | कर्म में द्र. ऋ. ५।२७।३, ४३।१०; ६।४०।५ । "निरुकत के पाँच अध्याय, पृष्ठ १२०, भी देखें ।

[5] .द्र. ऋ. ७।१५।९ : **उप त्वा सातये नरो 'विप्रासो यन्ति धीतिभिः। उपाक्षरा सहस्रिणी** । इस पर सायण-भाष्य : **अ-क्षरा=क्षय-रहिता स्तुति-रूपाऽस्मदीया वाक्** | वेङ्कट-माधव ने भी "अक्षरा' का अनुवाद 'वाक्' किया है। ऋ. ७।३६।७ : **मा नः परि ख्यदक्षरा चरन्ती** । सायण-भाष्य : **अक्षरा=व्याप्ता, चरन्ती वाग्, देवता च** ।

[6] .द्र. ऋ. १।१६४।२७, ४०; निघण्टु २।११।१; निरुक्त ११।४३ |

वाली गाय के रूप में की गई है[7] । अतः 'अघ्न्या' शब्द 'वाक्' के सन्दर्भ में एक ओर जहाँ 'वाक्' की नित्यता को प्रकट करता है, वहीं दूसरी ओर यह इस रूपक-कल्पना के माध्यम से वाक् के महत्त्व के बारे में ऋषियों की दृष्टि को भी प्रस्तुत करता है ।"गो" शब्द 'वाक्' के लिये इसी दृष्टि से प्रयुक्त हुआ है । न केवल 'गो' ही, अपितु इसका पर्याय 'धेनु' शब्द भी वाक् के लिये इसी दृष्टि से प्रयुक्त किया गया है । 'धेनु' से मिलता-जुलता 'धेना' शब्द तो वाक्' के लिये रूढ ही हो गया था[8] । 'सूनृता' शब्द 'वाक्' के सत्य, हित और प्रिय रूप को दृष्टि में रख कर प्रयुक्त हुआ है। "वाणी" शब्द भाष्य-कारों के अनुसार 'स्तुति' के अतिरिक्त 'छन्दों' अथवा 'छन्दो-बद्ध-वाक्' के लिये भी प्रयुक्त हुआ है, अतः यह "वाक्" का सामान्यार्थक पर्याय नहीं है । स्यात्, यह शब्द 'सम्भजन" अर्थ वाली √ वन् से 'सम्भजनीय' अर्थात् अपनाने योग्य (प्रिय वाक्) अर्थ में निष्पन्न है । छन्दो-बद्ध वाक् हृदय- हारिणी होती ही है ।

ऋषियों की दृष्टि में भाषा का महत्त्व : ऋग्वेद-संहिता के ऋषि जीवन में भाषा के महत्त्व से सुपरिचित हैं । उन्होंने अपने मन्त्रों में भाषा के व्यावहारिक और दार्शनिक महत्त्व का वर्णन यत्र-तत्र किया है। गृत्समद ऋषि इन्द्र से श्रेष्ठ धनों की कामना करते समय वाणी के माधुर्य (स्वाद्मन्) की कामना को नहीं भुला पाये हैं[9] । यह वाक् का स्वाद बोलने और सुनने वाले को आनन्द की अनुभूति के रूप में ही हो सकता है । बृहस्पति आङ्गिरस ऋषि का कथन है कि जैसे बुद्धिमान लोग सत्तू को छालनी से छान कर काम में लाते हैं, वैसे ही वे लोग वाक् को मन में छान कर सम्यक् विचार से उसे निर्दोष कर के, बोलते हैं वे पहले तोलते हैं, फिर बोलते हैं । ऐसी वाणी बोलने वाले के सब लोग मित्र होते हैं; तथा ऐसी वाणी पर जीवन में सफलता निहित है[10] । अगस्त्य मैत्रा-वरुणि ऋषि वाक् को ही रमणीय द्रव्यों वाली (रत्निनी) मानते हैं[11] । ऋग्वेद-संहिता के श्रेष्ठतम दार्शनिक ऋषि ममता-पुत्र दीर्घ-तमस् औचथ्य के अतुसार वाणी (सरस्वती) मनुष्य-रूपी बच्चे के लिये माँ के समान है । उसका स्तन अर्थात् शब्द सुख की खान (मयो-भू) है। उस से मनुष्य सब प्रकार के अभीष्ट (वार्याणि) पदार्थों की पुष्टि पाता है । वह (शब्द) उसे श्रेष्ठ पदार्थ देता है; उसे धन-सम्पत्ति प्राप्त कराता (वसु-विद्) है । वास्तव में वह मनुष्य को क्या नहीं देता ? वह श्रेष्ठ दाता (या श्रेष्ठ धन वाला, 'सु-दत्र')) है[12] । शश-कर्ण काण्व वाक् को देवी मानते हैं और स्वयं को वाणी के साथ ही जागरित मानते हैं | यह वाक् मनुष्यों को मति और श्रेष्ठ वस्तु प्रदान करती हैं[13]। पदार्थों (नाम-धेयं दधाना.) का जो गुप्त श्रेष्ठ और परि-पूर्ण भाव होता है, बृहस्पति आङ्गिरस उसे वाक् से प्रकट होता मानते हैं[14] । दीर्घ-तमस् का कथन है

---

[7] .द्र.ऋ. ८।१००।११ : **सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सु-ष्टु,- तैतु**। ऋ. १।१६४।२६, २८ और निरुक्त ११।४२ तथा ४३ : **वागेषा माध्यमिका**।

[8] द्र. निघण्टु १।११।३९ ।

[9] **इन्द्र, श्रेष्ठानि द्रविणानि धेहि चित्ति दक्षस्य सु-भगत्वमस्मे ।**

पोषं रयीणामरिष्टिं तनुनां, स्वाद्मानं वाचः, सु-दिनत्वमह्नाम् ॥२।२१।६।

[10] **सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।**

अत्रा सखायः सख्यानि जानते; भद्रैषां लक्ष्मीर्नि-हिताऽधि वाचि ॥१०।७ १।२।

तुलना करें : **मनः-पूतां वदेद्वाचं, बस्त्र-पूतं पिबेज्जलम् ।**

दृष्टि-पूतं क्षिपेत्पादं, शास्त्र-पूतं समाचरेत् ॥।

[11] **वाचं-वाचं जरितू रत्निनीं कृतमुभा शंसं नासत्याऽवतं मम । १।१८२।४।**

[12] **यस्ते स्तनः शशयो, यो मयो-भूर्, येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि ।**

यो रत्न-धा, वसु-विद्, यः सु-दत्रः, सरस्वति, तमिह धातवे कः ॥।१। १६४।४९।

सायण : स्तन --स्तनवच्छिशु-स्थानीयानां. प्राणिनामाप्यायन-कारी लौकिक-वैदिक-सु-शब्द-रूपः स्तनः ।

[13] **अभुत्स्यु प्र देव्या सार्क वाचाऽहमश्विनोः ।**

व्यावर्देव्या मतिं, वि रातिं मर्तेभ्यः ॥ ८।९।१६ ।

[14] **बृहस्पते, प्रथमं वाचो अग्नं यत्प्रैरत नाम-धेयं दधानाः |**

यदेषां श्रेष्ठ, यद-रिप्रमासीत्, प्रेणा तदेषां निहितं गुहाऽऽविः ॥ १०।७१॥१॥

कि वाणी जगत् के व्यवस्थित सञ्चालन का पहला फल है[15] । प्रस्कण्व काण्व का कथन है कि वाक् व्यवस्थित और मर्यादित जीवन का मार्ग है[16]। वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि का कथन है कि वाणी अनश्वर (अक्षरा) और हजारों फल देने वाली (सहस्रिणी) है[17] । दीर्घ-तमस् का कथन है कि वाक् समस्त पदार्थों को जानती है; उसके द्वारा जगत् की समस्त वस्तुओं का वर्णान हो सकता है; पर वाणी की इयत्ता को कोई नहीं जानता[18] । उनके और सध्रि वै-रूप के मत में वाणी का प्रति-पाद्य अ-क्षर तत्त्व (आत्मा) है, तथा वाक् का उत्स भी ब्रह्म ही है[19] । सध्रि ऋषि का कहना है कि वाणी का विषय उतना ही व्यापक है, जितना व्यापक ब्रह्म-तत्त्व है[20], अर्थात् वाणी ब्रह्म के समान विभु है[21] । अर्चनानस् आत्रेय ऋषि ने मेघ-गर्जन रूपी वाक् के तीन विशेषण दिये हैं: (क) इरावती, (ख) चित्रा और (ग) त्विषीमती[22] । वस्तुत: ये तीनों विशेषण मानवीय भाषा पर भी लागू होते हैं : वाक् अभीष्ट की सिद्धि कर के भोग प्रदान करने के कारण "इरावती" है। विविध शैलियों, उतार- चढ़ाव आदि के कारण "चित्रा' अथवा अपनाने योग्य (चायनीया)[23] है। 'त्विषीमती'[24](प्रशस्त दीप्ति वाली) अर्थ-प्रकाशन करने के कारण है।

वाक् के गुण : अगस्त्य मैत्रा-वरुणि के अनुसार वाक् का गुण रमणीयता (प्रियता) और सोद्देश्यता (सार्थकता) है[25] । अर्चनानस् आात्रेय भी सोद्देश्य (इरावती), रमणीय (चित्रा) और ओजस्वी (त्विषीमती) वाणी को श्रेष्ठ समझते प्रतीत होते हैं[26] । अवत्सार काश्यप यथार्थ-कथन को ही वाणी का गुण समझते लगते हैं[27] । कुत्स आङ्गिरस ऋषि अश्वियों से कर्मठता से युक्त (अप्नस्वती) और मन का अनुसरण करने वाली (मनीषा) वाक् की कामना करते हैं[28] । अर्थात् उनके मत में वाणी में ये दो गुण होने चाहियें। कुरुसुति काण्व ऋषि मौलिक (नव-सक्ति) और यथार्थ-परक (ऋत-स्पृश्) वाणी को श्रेष्ठ मानते हैं[29] । उनका आशय कदा-चित् यह है कि वाणी में वक्ता की सूझ-बूझ और कल्पना-शक्ति की छाप तो हो ही, पर यह इतनी उत्प्रेक्षा या अत्युक्तिमय न हो कि यथार्थ से विलग जाये । गृत्समद (अपर-नाम आङ्गिरस शौन-होत्र) वाणी का सब से बड़ा गुण माधुर्य मानते हैं, यह तथ्य इस बात से विदित होता है कि इन्द्र से श्रेष्ठ द्रव्यों

---

[15] **यदा मागन्प्रथम-जा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्या: ॥१।१६४।३७॥**

[16] **हरि: सृजान: पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम् ।**
देवो देवानां गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्र-वाचे ॥ ९।९५॥२॥

[17] **उप त्वा सातये नरो विप्रासो यन्ति धीतिभि: । उपाक्षरा सहस्रिणी ॥ ७।१५।९ ॥**

[18] **मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदं वाचमविश्वमिन्वाम्॥ १।१६४।१०॥**

वेङ्कट-माधव : **विश्वस्य बेदयित्रीं, सर्वैश्चाज्ञायमान-परिमाणां वाचम्...।**

[19] **पृच्छामि वाच: परमं व्योम (१।१६४।३४) । ब्रह्मायं वाच: परमं व्योम (३५), ऋचो श्रक्षरे परमे व्योमन्, यस्मिन् देवा धि विश्वे नि-षेदु: (३९) ।** सध्रि वैरूप **: तं (सु-पर्णं) धीरा वाचा प्र-णयन्ति सप्त (१०॥११४।७) ॥**

[20] **यावद् ब्रह्म वि-ष्ठितं, तावती वाक् (१०।११४॥८) ॥**

[21] सम्भवत: इसी मन्तव्य का पल्लवन आगे चल कर वैयाकरण दार्शनिकों शब्द-ब्रह्म-वाद के रूप में किया है, जिसका प्रति-पादन "वाक्य-पदीय' में और तन्त्र-ग्रन्थों में यत्र-तत्र किया गया है।

[22] **वाचं सु मित्रा वरुणाविरावतीं पर्जन्यश्चित्राँ वदति त्विषीमतीम्॥५।६३।६॥**

[23] यह अर्थ यास्क आदि की दृष्टि से किया है । ऋग्वेद-संहिता में "चित्र' शब्द √चित् अथवा √कित् से व्युत्पन्न के रूप में अभिप्रेत है तथा इस का अर्थ भी 'केतु' के समान 'प्र-ज्ञापक' है ।

[24] तुलना करें ऋ. १०।९८।३ : **अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन् बृहस्पते, अनमीवामिषिराम्।**

[25]. द्र. पृष्ठ ३, टि ११।

[26]. द्र. पृष्ठ ४, टि २२।

[27]. द्र. ५।४४।६ : **यादृगेव ददृशे, तादृगुच्यते ।**

[28] **अप्नस्वतीमश्विना वाचमस्मे कृतं नो दस्रा वृषणा, मनीषाम् | १।११२।२४॥**

[29] **.वाचमष्टा-पदीमहं नव-स्नक्तिमृत-स्पृशम् । इन्द्रात्परि तन्वं ममे ॥८।७६।१२॥**

की प्रार्थना करते हुए वे वाक् के माधुर्य (स्वाद्यन्) की कामना करते है[30]। विश्व-मनस् वैयश्व ने वाक् को घी और मधु (शहद) से भी स्वादु बताया है[31]। "घी से स्वादु" कहने से शायद वाक् में पोषकता अभिप्रेत है तथा "मधु से स्वादु" कहने से माधुर्य (मिठास) अर्थात् प्रियता अभिप्रेत है। इन दोनों पदार्थों से तुलना का समन्वित तात्पर्य वाक्-की हितता और प्रियता है | दीर्घ-तमस् औचथ्य सौ-शब्द (उचित शब्द का प्रयोग :शुक्र-वर्णा) [32], रमणीय उद्देश्य से युक्तता (रत्न-धा, वसु-विद्)[33] को तो चाहते ही हैं, इन गुणों के अतिरिक्त वाक् में व्यञ्जकता और सामर्थ्य (विश्व-विद्) के साथ-साथ गाम्भीर्य (अ-विश्वमिन्वा) भी होना चाहिये[34]। | देवापि आर्ष्टि-षेण ऋषि वाणी में सोद्देश्यता (इषिरा), ओजस्विता और स्पष्टता (द्यु-मती) और निर्दोषता (अनमीवा) गुणों की कामना करते हैं[35]। नेम भार्गव[36] ऋषि वाक् को धेनु(दुधार गाय) के समान मानते हैं। हित-कर दूध प्रचुर मात्रा में देना धेनु की विशेषता है। वाणी भी हित-कर अर्थ का दोहन (प्रकटन) प्रचुर मात्रा में करे, यही उनका आशय लगता है। अत: इस रूपक, से वे हितता और अर्थ-बहुलता को वाणी का गुण मानते प्रतीत होते हैं। उन्होंने वाक् के लिये 'मन्द्रा' (प्रशंसक अर्थात् प्रिय), देवी" (अर्थ-प्रकाशक) और "राष्ट्री मन्द्रा' (अधिकार के प्रभाव से युक्त और प्रिय) विशेषणों का प्रयोग किया है[37]। इससे प्रतीत होता है कि वे प्रिय, प्रभाव-शाली (रोब-दाब और असर वाली) होते हुए भी प्रिय, एवम् अर्थ-प्रकाशन में समर्थ वाक् को श्रेष्ठ वाक् समझते हैं। उसमें सार्थकता के साथ-साथ ओज भी होना चाहिए[38]। पतङ्ग प्राजा-पत्य का अभिप्राय है कि वाक् को सु-स्पष्ट (द्योतमाना), मन से छनी हुई (मनीषा) और सत्य होना चाहिये[39]। प्रस्कण्व काण्व सच्चाई का वर्णन करने वाली (ऋतस्य पथ्या) वाक् को ही श्रेष्ठ समझते हैं[40]। बृहस्पति आङ्गिरस का मत है कि वाणी को मन से छान कर बोलना चाहिये[41]। इसके अतिरिक्त वे वाक् को पति के प्रेम में पगी, ऋतु-स्नाता युवती के समान समझते हैं, जो अपने प्रिय को अपना सर्व-स्व सौंपने को आतुर है[42]। इस से कदा-चिद् उनका आशय यही है कि वाक् भी अपना सर्व-स्व (अर्थ) अपने प्रिय, अर्थात् श्रोता को झटिति सौंपने को आतुर होती है। अर्थात् वाक् को इतना स्पष्ट (उशती) और सुन्दर शब्दों से युक्त (सु-वासा:) होना चाहिये कि श्रोता उससे वक्ता के आशय को झटिति भली-भाँति समझ ले। लुश धानाक वाक् को सत्य का प्र-वक्ता मानते हैं[43], अर्थात् सत्य वाक् का एक विशिष्ट गुण है। वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि अनेकार्थक (सहस्रिणी)[44], स्पष्ट (ज्योतिरग्रा) और आनन्द-दायक (मधु-दोधमूधो दुहे)[45] वाक्

---

[30] . द्र. पृष्ठ ३, टि. ९।

[31] **. अ-गो-रुधाय' गविषे द्यु-क्षाय दस्म्यं वचः ।**

घृतात् स्वादीयो मघुनश्च वोचत ॥८।२४।२०॥

[32] **इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्र-वर्णामुदु नो यंसते धियम् ॥१।१४३।७॥**

[33] द्र. पृष्ठ ३, टि.१२।

[34] . द्र. पृष्ठ ४, टि.१८॥

[35] . द्र. पृष्ठ ४, टि.२४।

[36] **देवीं वाचमजनयन्त देवास्....सा नो मन्द्रेषमुर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसु-ष्टुतैतु ॥ ८।१००।११ ॥**

[37] **यद्दाग्ववन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां नि-घसाद सन्द्रा ॥| ८१००।१०॥।** तथा पिछली टि. देखें।

[38] **द्र. पृष्ठ ४ टि. २४।**

[39] **पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति, तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः ।**

तां द्योतमानां स्वयं मनोषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥१०।१७७।२॥

[40] . द्र. पृष्ठ ४, टि. १६।

[41] द्र. पृष्ठ ३, टि. १०।

[42] **. उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम्, उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।**

उतो त्वस्मै तन्वं वि-सस्रे जायेव पत्य उशती सु-वासाः ॥ १०।७१।४ ॥

[43] **पिपर्तु मा तदृतस्य प्र-वाचनं, देवानां यन्मनुष्या असन्महि ॥ १०।३५।८॥**

[44] द्र. पृष्ठ २, टि. ५।

की कामना करते हैं। अर्थात् वाक् में शब्द और अर्थ--दोनों-स्पष्ट एवं मधुर होने चाहियें। वाम-देव गौतम[46] के मत में वाक् की शैलियाँ तथा अर्थ नाना-विध (शत-व्रजा) होने चाहियें ही, उसे इतना गम्भीर और प्रभाव-पूर्ण भी होना चाहिये कि विरोधी लोग उसकी उपेक्षा न कर सकें। भली-भाँति सोच-समझ कर बोलने पर भी उसे सरिता के समान (प्रवाह-मय) होना चाहिये[47]। विश्वामित्र गाथिन का कथन है कि बुद्धिमान् (घीरा:) तथा कर्मठ (अपस: लोग वाणी को भली-भाँति विचार (मनीषा) से छान लेते हैं (पुनन्ति)[48]। सध्रि वै-रूप श्रोता की बुद्धि में पैठ जाना ही वाक् की सर्वातिशायी विशेषता मानते हैं[49]। सु-पर्ण काण्व के मत में माधुर्य ही वाक् का प्रमुख गुण है[50]।

निष्कर्ष : उपर्युक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाणी के निम्नोक्त १५ गुण ऋषियों को अभिप्रेत प्रतीत होते हैं : १ प्रियता, २ माधुर्य, ३ हितता, ४ सोद्देश्यता, ५ ओजस्विता, ६ सु-विचारिता, ७ अर्थ-प्रचुरता, ८ सत्यता, ९ मौलिकता, १० गाम्भीर्य, ११ स्पष्टता, १२ प्रभाव-शालिता, १३ प्रवाह-मयता, १४ सौ-शब्द्य और १५ निर्दोषता।

वाक् के दोष : ऋग्वेद-संहिता में कति-पय स्थानों में इन्द्र के शत्रुओं को 'मृध्र-वाच:' कहा गया है[51]। यहाँ ' मृध्र' शब्द ब्राह्मण-काल के 'म्लेच्छ' शब्द[52] जैसा है। अत: यह शब्द "भ्रष्ट उच्चारण" अर्थ का वाचक है[53], इन्द्र के शत्रुओं का उच्चारण संस्कृत-भाषी आर्यों की दृष्टि में भ्रष्ट, अत-एव हेय था। फलतः उन्होंने अपने शत्रुओं को 'मृध्र' और ' मृध्र-वाच्" नाम दे दिया। इससे यह ध्वनित होता है कि आर्यों की स्पष्ट-स्वर-वर्ण-पदा भाषा का ठीक उच्चारण न कर पाना अनार्यों का एक भाषिक दोष था। अत: वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि के मत में अस्पष्ट उच्चारण वाक् का एक दोष है। अनार्यों की भाषा आर्यों की समझ से बाहर होने के कारण उनके लिये बाँझ (वध्रि) है[54]। अत: उपर्युक्त ऋषि की दृष्टि में 'अर्थ-राहित्य' भाषा का दूसरा दोष है। बृहस्पति आङ्गिरस ने इस दोष को और स्पष्ट रूप से 'अ-धेनु, अ-फला, अ-पुष्पा- वाक्' शब्दों से व्यक्त किया है[55]। अर्थात् अर्थ-रहित वाणी सूखी गाय के समान है। वह वाणी तो नाम-मात्र को है | वह फूल से रहित (लतर के समान व्यर्थ) है

वाक् दैवी देन है: नेम भार्गव ऋषि का कथन है कि देवताओं ने चेतनावान् और इन्द्रिय-सम्पन्न सभी प्रकार के दु-पाये चु-पाये, तिर्यक् और सरीसृप पशुओं[56] को वाक् प्रदान की है[57]; परन्तु इस का सर्वाधिक लाभ उठाया है मनन-शक्ति से युक्त पशुओं (अर्थात्

---

[45] **तिस्रो वाच: प्र वद ज्योतिरग्रा, या एतद्दुह्रे मधु-दोघमूधः ।७।१० १।१।।**

[46] . **एता अर्षन्ति हृद्यात्समुद्राच्छत-व्रजा, रिपुणा नाव-चक्षे ॥ ४।५८।५ ।।**

[47] **सम्यक्स्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा पूयमानाः** ।।४।५८।६।।।

[48] **पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देव-या विप्र उदियर्ति वाचम्** ॥४।८।५॥

[49] **.को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद**?१०।११४।९। तथा निरुक्त ८।३ : **धिष्ण्यो=धिषणा-भवः । धिषणा धिषेर्दधात्यर्थे । धी-सादिनीतिवा | धी-सानिनीति वा।**

[50] **सत्यं तदन्द्रा-वरुणा, कृशस्य वां मध्व ऊर्मि दुहते सप्त वाणीः** ।८।५९।३॥

[51] द्र. आगे "६. **भाषाओं के भेद**।" प्रकरण, तथा पृष्ठ १०, टि. ७२।

[52] . द्र. शतपथ ब्राह्मण ३॥२।१।२३ : **तेऽसुरा आर्त्त-वचसो 'हेऽलवो, हेऽलव' इति व्वदन्तः परा-बभूवुः। २४ : तत्रै- तामपि व्वाचमूदुरुप जिज्ञास्याम्। स म्लेच्छः ।तस्मान्न ब्राह्मणो म्लेच्छेत्; असुर्या हैषा वाक्।**

[53] द्र. महा-भाष्य, पस्पशा, (झज्जर-संस्करण, पृष्ठ ११) : **तेऽसुराः'-हैऽलयो, हेऽलय' इति कुर्वन्तः परा बभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै --नाप-'भाषितवै; म्लेच्छो ह वा एष यदप-शब्दः।**

[54] .....**इन्द्रः..... अमित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रि-वाचः** ॥ ७॥१८॥१

[55] **अ-धेवा चरति मायया॒ष वाचं शुश्रुवाँ प्र-फलामपुष्पाम्** ॥| १०७१।५ ॥

[56] . **तवेमे पञ्च पशवों वि-भक्ता गावो अश्वाः, पुरुषा, अजावयः ॥**

तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हूंसाः, सु-पर्णाः शकुना वयांसि, ।

तव यक्षं पशु-पते, अप्स्वन्तस्; तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे |

मनुष्यों ने)[58] । सर्वाधिक मनन-शील पशु मनुष्य है[59] । अत: वाणी मनुष्य की प्रमुख विशेषता है । सध्रि वैरूप के मत में वाणी को ईश्वर ने शरीर में (एक इन्द्रिय के द्वारा) स्थापित किया है[60] । देवताओं की देन यह वाक् काम-धेनु है : वह हमें भोग (इष) और बल (ऊर्ज्) प्रदान कर के आनन्दित करती है[61] । कुत्स आाङ्गिरस का कथन है कि इन्द्र ने ही स्तोता को पहले- पहल वाणी प्रदान की[62] । वाम-देव गौतम का यह मत प्रतीत होता है कि मनुष्यों को वाणी ईइवर (वेन) से उसकी स्वाभाविक शक्ति के रूप में प्राप्त हुई है। मनुष्य उसका परिष्कार करते है[63] ।

वाक् नित्य है : उच्चरित ध्वनि के रूप में वाक् जहाँ अ-नित्य है, वहीं व्यापक होने के कारण यह नित्य भी मानी जाती है[64] । ऋग्वेद-संहिता में भी यही आशय वर्णित है : वहाँ उच्चारण के द्वारा वाक् के निर्माण की चर्चा की गई है[65] । इसके साथ ही वे उच्चरित ध्वनि से भिन्न वाक् की सत्ता भी मानते थे, जिसके लिये वाक् की अनश्वरता के बोधक 'अक्षरा और 'अघ्न्या' शब्दों का प्रयोग तो उस युग में होता ही था[66], वि-रूप आङ्गिरस ऋषि ने जिसे स्पष्ट रूप से "नित्य" कहा भी है[67] ।

भाषा के दो रूप--मौखिक और लिखित : जागतिक व्यवहार में पदार्थ का बोध नाम और रूप से होता है[68] । पदार्थ-बोध के लिये आश्रित भाषा के भी दो रूप हैं : (क) जिस का ग्रहण दृष्टि से होता है, अर्थात् लिखित भाषा । (ख) जिस का ग्रहण कान के द्वारा होता है, अर्थात् मुख से उच्चरित और कान से श्रुत भाषा । बृहस्पति आङ्गिरस ने वाक् को समझने की दृष्टि से मनुष्यों के तीन विभाग किये हैं : (क) अ-पढ, गँवार, अँगूठा-टेक, जिसे काला अक्षर और भैंस बराबर हैं; (ख) जो सुन कर भी वाणी को समझ नहीं पाता, अर्थात् जिसे भाषा सङ्केत-ग्रहण के अभाव में आती ही नहीं है । (ग) जो वाक् के दोनों रूपों का जानकार है[69] |

भाषाओं के भेद : ऋचाओं के दर्शन के समय भाषाओं के कति-पय भेदोप-भेदों की कल्पना विविध आधारों पर हो चुकी लगती है। अम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् ने प्रयोक्ताओं के आधार पर वाक् के (क) देवों द्वारा सेवित और (ख) मनुष्यों द्वारा सेवित भेदों की चर्चा की है[70] । उच्चारण के आधार पर वाक् और "मृध्र वाक्' की चर्चा कुछ मन्त्रों में आयी है। 'वाक्' आर्यों की अपनी भाषा है,

---

अथर्व-संहिता ११।२।९, २४ । द्र. निरुक्त-मीमांसा, पृष्ठ ९७।

[57] **देवीं वाचमजनयन्त देवास्, तां विश्व-रूपा; पशवो वदन्ति** ॥।८।१० ०।११॥

[58] **विश्व जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचमविदन्मनायो:** ॥१।९२॥९॥

[59] द्र. पृष्ठ ६, टि. ४३।

[60] . **को धिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद ?** १०।११४।९॥ प्रकरणानुसार उत्तर होगा : सु-पर्ण: अर्थात् ब्रह्म।

[61] द्र. पृष्ठ ६, टि. ३६।

[62] **यो ब्रह्मणे प्रथमो गा अविन्दत** ॥। १।१०१।५ ॥

[63] **त्रि-धा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन् ।**

इन्द्र एकं सुर्य एकं जजान, वेनादेक स्व-धया निष्टतक्षु: ॥ ४।५८।४ ॥

[64] . द्र, निरुक्त १।२ : **इन्द्रिय-नित्यं वचन्मौदुम्बरायण: ।....व्याप्ति-मत्त्वात्तु शब्दस्य । निरुक्त-मीमांसा**, पृष्ठ १०९-११३॥

[65] . द्र. अनुच्छेद (**१०. उच्चारण के पर्याय ।" '११. उच्चारण की प्रक्रिया ।**

[66] द्र. अनुच्छेद "१. **भाषा के पर्याय** ।" पृष्ठ १, और पृष्ठ २, टि. ५ ।

[67] **तस्मै नूनमभि-द्यवे वाचा विरूप, तित्यया, वृष्णे चोदस्व सु-ष्टुतिम्** ।।८।७॥६ ॥

[68] . **आ नामभिर्रुतो वक्षि विश्वाना रूपेभिर्जात-वेदो, हुवान:** ॥५।४३।१०।

[69] द्र. पृष्ठ ६, टि. ४२। **'सहस्रं मे ददतो अष्ट-कर्ण्य:**। (१०।६२।७) के "**अष्ट-कर्ण्य:**" का अर्थ कुछ विद्वानों ने आठ का अङ्क जिनके कान पर लिखा है (ऐसी गायें)" किया है ।

[70] . **अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभि:।** १०।१२५॥५ ॥

एवं 'मृध्र वाक्' पणियों और असुरों की भाषा[71] । ' मृध्र" शब्द का अर्थ बहुत स्पष्ट नहीं है । यास्क ने इसका अर्थ 'मृदु' किया है[72] । परन्तु यह अर्थ शत्रुओं की भाषा के विशेषण[73] के रूप में ठीक नहीं घटता प्रतीत होता । भाष्य-कारों ने[74] ठीक ही इसका अर्थ 'हिंसित" या "परुष" किया है । "मृध्र" का प्रयोग विशेष्य के रूप में भी आर्यों के शत्रुओं के लिये हुआ है[75] । यह प्रयोग ऐसा ही प्रतीत होता है, जैसे कि "भ्रष्ट उच्चारण" के लिये प्रयुक्त 'म्लेच्छ' शब्द "भ्रष्ट उच्चारण करने वाले लोगों" के लिये रूढ हो गया है[76] । अतः 'मृध्र वाच्" का अर्थ "अस्पष्ट स्वरों तथा वर्णों वाली भाषा' और 'मृध्र -वाच्" (बहु-व्रीहि) का अर्थ "इस प्रकार की अस्पष्ट उच्चारण वाली भाषा बोलने वाले लोग" होना चाहिये । इन अस्पष्ट उच्चारण वाली भाषा बोलने वाले लोगों को "वि-वाच्' (बहु-व्रीहि), अर्थात् आर्यों की भाषा से भिन्न प्रकार की बोली बोलने वाले लोग," भी कहा गया है[77] | अतः लगता है कि आर्य लोग अपनी स्पष्ट स्वरों और वर्णों वाली भाषा की दृष्टि से अस्पष्ट ध्वनियों वाली पणियों की भाषा को 'मृध्रा वाक्' एवम् ऐसी बोली बोलने वाले पणि आदि अपने शत्रुओं को "मृध्र-वाक्' और सङ्क्षेप में लाक्षणिक रूप से "मृध्र" कहा करते होंगे ।

लगता है कि आर्यों में भी भाषा के भेदोपभेद थे । सु-होत्र भारद्वाज[78] और शुनःहोत्र[79] का कथन है कि "वि-वाच्' (विभिन्न बोलियाँ बोलने वाली) प्रजाएँ इन्द्र को बुलाती हैं। गृत्समद का यह कथन यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इन्द्र को युद्ध में एक-दूसरे के विरुद्ध डटी दोनों सेनाएँ अलग-अलग बुलाती हैं[80] । इसे दृष्टि में रखते हुए 'वि-वाच्' का अर्थ 'विविध प्रकार से बुलाने वाली (प्रजायें)' भी हो सकता है । किन्तु अथर्व-संहिता (शौनक-शाखा) में अथर्वा ऋषि ने 'वि-वाचसं जनम्' का प्रयोग 'भिन्न-भिन्न भाषायें बोलने वाले लोग' अर्थ में किया है कि पृथिवी भिन्न-भिन्न भाषाओं वाले तथा भिन्न-भिन्न धर्मों वाले लोगों को अनेक प्रकार से धारण करती है[81] । अतः ऋग्वेदीय 'वि-वाचः" का अर्थ भी 'भिन्न-भिन्न बोली बोलने वाले" करना असङ्गत एवम् असम्भव नहीं है

वाणी की निष्फलता को दृष्टि में रख कर भी वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि ने 'वध्रि-वाच्" शब्द का प्रयोग किया है[82]। "वध्रि' का प्रयोग बैल (बधिया)' अर्थ में वृषन्" (बिजार, साँढ) के विपरीत हुआ है[83] । अत: ' वध्रि वाक्' का अर्थ होगा : वह वाणी जिसका कोई अर्थ नहीं होता, अथवा असर नहीं होता' । वध्रि-वाक्' (बहु-व्रीहि) का अर्थ होगा : निफष्ल निरर्थक बोली बोलने वाले (लोग) ।

---

[71] द्र. १/१७४।२ : **दनो विश इन्द्र, मृध्र-वाचः** | ५।२६९।१० : **नि दुर्योण आ-वृणङ् मृध-वाचः** । ५।३२।८ : **नि दुर्योण आ-वृणङ् मृध-वाचम्** । ७।१८।१३ : **जेष्म पूरुं विदथे मृध्र-वाचम्** । ७।६।३ : **न्य-क्रतून्, ग्रथिनो, मृध -वाचः, पणीरँश्रद्धाँ,अ-वृधाँ,अ-यज्ञान्** ।

[72] द्र. निरुक्त ६।३१ : **दनो विश इन्द्र, मृधः-वाचः** (ऋ. १।१७४।२)=**दान-मनसो नो मनुष्यानिन्द्र. मृदु-वाचः कुरु** ।

[73] .द्र.टि.७१।

[74] . द्र. सायण, मुद्गल : हिंसित। वेङ्कट-माधव, ७।६।३ : परुष, हिंसक ।

[75] **घ्नन्मृध्राण्यप द्विषो दहन्, रक्षांसि विश्व-हा**।८॥४३।२६ ॥

पुराऽग्ने दुरितेभ्यः, पुरा मृध्रेभ्यः कवे। प्रण आयुर्वसो, तिर ॥४४।३०॥

[76] द्र. पृष्ठ ७, टि. ५२-५३।

[77] **यो वाचा वि-वाचो, मृध्र वाचः, पुरू सहस्राऽशिवा जघान** (१०)२३।५) | **बिभेद वलं, नुनुदे वि-वाचः** (३।३४।१०) | वेङ्कट-माधव ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है : **वाचश्चाव्याकृता वि-नुनुदे--व्या-चकार** । आगे (**१३. भाषा का व्याकरण** ।' प्रकरण देखें ।

[78] **अवोचन्त चर्षणयो वि-वाचः** (६।३१।१)।

[79] . **त्वां हीन्द्रावसे वि-वाचो हवन्ते चर्षणयः शूर-सातौ** । ६।३३।२ ॥

[80] **यं क्रन्दसी सं-यती वि-ह्वयेते परेऽवर उभया -मित्राः** ।

समानं चिद्रथमा-तस्थिवांसा नाना हवेते, स जनास, इन्द्रः ॥२।१२॥८॥ ऋ. ६।३३॥३ भी देखें ।

[81] **जनं बिभ्रती बहु-धा वि-वाचसं, नाना-धर्माणं पृथिवी.....**।१२।१।४५ |

[82] **सुदास इन्द्रः सुततुकाँ अ-मित्रानरन्धयन्मानुषे वध्रि-वाचः** | **७।१८।९** |

[83] **वृष्णो वध्रिः प्रति-मानं बुभूषन्तरुत्रा वृत्रो अशयद् व्यस्तः ॥१।३२।७।**

वाक् की सङ्ख्या : ऋग्वेद-संहिता में वाक् की सङ्ख्या तीन और वाणियों की सङ्ख्या सात कति-पय मन्त्रों में बताई है। वृष्टि की इच्छा वाले वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि (अथवा कुमार आग्नेय[84]) का अपने ऋषि मन को[85] कहना है कि तू ज्योति जिनमें पहले आती है, तथा जो मधु का दोहन करने वाले ऊधस् को दुहती हैं (==मधु दुहती हैं) ऐसी तीन वाचों को बोल[86] । इसी प्रकार त्रित आप्त्य[87], उचत्थ्य आङ्गिरस[88] और पराशर शाक्त्य[89] ने भी तीन वाचों की चर्चा की है। भाष्य-कारों (वेङ्कट-माधव और सायण) के अनुसार तीन वाच् से ऋचा, यजुष् और साम अभिप्रेत हैं। इस दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि यह सङ्ख्या अभिव्यक्ति-शैली के आधार पर वाक् के गद्य, पद्य और गेय भेदों को प्रकट करती है एवं काव्य-शास्त्र का विषय है, भाषा-शास्त्र का नहीं।

इसी प्रकार विश्वामित्र गाथिन ने कहा है कि सात वाणियाँ एक गर्भ को धारण करतीं हैं[90] । वेङ्कट-माधव और सायण ने यहाँ वाणी" का अर्थ "नदी" किया है। सम्भवतः बहने की आवाज़ करने के कारण "वाणी" शब्द "नदी" अर्थ में उसी प्रकार रूढ मान लिया गया है, जिस प्रकार 'सरिता' अर्थ में स्वयं "नदी"[91] और "नद"[92] शब्द रूढ हो गये हैं। सु-पर्ण काण्व ने अवश्य भाषा के प्रसङ्ग में ही 'वाणी' की सात सङ्ख्या बताई है[93] । उपर्युक्त दोनों भाष्य-कारों ने इस खैलिक सूक्त पर भाष्य नहीं किया है। अत: यहाँ 'सात वाणियों' का आशय उनके मत में क्या है, यह हम नहीं कह सकते। परन्तु द्वित आप्त्य के इसी प्रसङ्ग के "ऋषियों की सात वाणियाँ सोम की स्तुति करती हैं[94] कथन पर दोनों आचार्यों ने 'सात वाणियाँ' का अर्थ 'सात छन्द' किया हैं[95] । अतः खिल-मन्त्र पर भी यदि वे लोग भाष्य करते, तो 'सात वाणियाँ-सात छन्द' अर्थ ही करते।

निष्कर्ष : इस कथन से दो बातें स्पष्ट हैं : (क) 'सात वाणी' कथन भाषाओं की सङ्ख्या का बोधक नहीं है। (ख) अभिव्यक्ति-शैली के आधार पर वाक् के पद्य-बद्ध और गद्य-बद्ध भेद ऋषियों को प्रतीत थे। पिछले प्र-घट्ट के इस निष्कर्ष को मिलाने से यह स्पष्ट है कि वाङ्मय के (१) पद्य, (२) गद्य, (ग) गेय भेद उस समय प्रति-ष्ठित हो चुके थे।

उच्चारण के पर्याय : लौकिक संस्कृत में प्रचलित "उच्चारण" शब्द "उद्+√चर्+इ(णिच्)+अन से निष्पन्न है। इस का अर्थ है: ऊपर को चलाना। शिक्षा-शास्त्र के अनुसार यह 'ऊपर को चलाना प्रक्रिया यों है :

वक्ता जब कुछ कहना चाहता है, तब आत्मा बुद्धि में कथ्य को रख लेता है; फिर बोलने की इच्छा होती है। इस से शरीर में विद्यमान अग्नि पर आघात होता है। यह आघात शरीर में विद्यमान वायु को प्रेरित करता है। वायु छाती की ओर चढ़ता है; फिर कण्ठ

सिन्धुर्न क्षोदः शिमीवां ऋघायतो वृषेव वध्रीँरभि वृष्ट-योजसा ॥ २।२५।३॥

[84] द्र. कात्यायन की ऋक्सर्वानु-क्रमणी : **एते कुमार आग्नेयोऽपश्यदू, वसिष्ठ एव वा।**

[85] द्र. सायण-भाष्य ७॥१०१।१ : **ऋषिरात्मानं स्तुतौ प्रेरयति**।

[86] द्र. पृष्ठ ६, टि. ४५।

[87] . **तिस्रो वाच उदीरते**। ९।३३।४ ॥

[88] . **प्रसवे त उदीरते तिस्रो वाचो मखस्युवः** | ९।५०॥२ ॥

[89] **तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणों मनीषाम्** ।९।९७।३४॥ तथा ऋक्सर्वानु-क्रमणी : "**अस्य प्रेषा" (ऋ. ९।९७)ऽष्टा-पञ्चाशत्। आद्यं तृचं वसिष्ठोऽपश्यत्। उत्तरान्नव पृथग् वशिष्ठा इन्द्र-प्रमतिर...वसुक्र इति | चतुर्दश पराशरः।**

[90] द्र. ३।१।६ : **एकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः।१।७:आ-सातरा विविशुः सप्त वाणीः।**

[91] अथर्व-संहिता ३॥१३॥१ : **अददः सम्प्रयतीरहाव नंदता हते। तस्मादा नद्यो नाम स्थ; ता वो नामानि सिन्धवः** ॥ द्र. निरुक्त-मीमांसा पृष्ठ २१५-१६ और निरुक्त के पाँच अध्याय, पृष्ठ २५०, भी देखें।

[92] . **रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु मे मनः** | १०११।२॥।

[93] . द्र. पृष्ठ ७, टि. ५०।

[94] **अभि वाणीरृषीणां सप्त नूषत** ॥९।१०३।३॥

[95] **अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः** | (१।/१६४।२४) और इस पर भाष्य भी इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है | यहाँ भी 'वाणी' का अर्थ 'छन्द' ही किया गया है।

में आता है। वहाँ से ऊपर को फेंका हुआ वायु मूर्धा में आता है। वहाँ से ऊपर को फैल जाता है। १ स्वर, २ काल (मात्रा), ३ स्थान, ४ आभ्यन्तर प्रयत्न तथा ५ बाह्य प्रयत्न के कारण यह वायु तत्तद् वर्णों को उत्पन्न करता है[96]।

उपर्युक्त विवरण के आधार-भूत श्लोकों में क्रिया के लिये 'प्रेरयति', "चरन्' और "उदीर्ण' शब्दों का प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य हैं। ऋग्वेद-संहिता में "उद्+चर्" का प्रयोग वाक् के सन्दर्भ में नहीं हुआ है। हाँ, इस अर्थ वाली कुछ अन्य क्रियाओं का प्रयोग कई बार "उच्चारण' के सन्दर्भ में ही हुआ है। उस का ब्यौरा यों हैः

"उच्चारण" के लिये ऋग्वेद-संहिता में वाक् को कर्म बना कर ('वाचम्' के प्रयोग के साथ) "इयर्ति" का प्रयोग सर्वाधिक (पाँच) बार[97] तथा, 'उद्' उपसर्ग के साथ (उदियर्ति वाचम्) दो बार[98] हुआ है : गृत्समद[99], प्रस्कण्व काण्व[100], अग्नि-युत (अथवा अग्नि-यूप') स्थौर[101] ने वाक् को प्रेरित करने की उपमा नदी (सिन्धु) में नाव को ढकेलने से दी है[102]। उद्+√ईर्[103] और √कृ[104] का प्रयोग भी इस (उच्चारण) अर्थ में दो-दो बार हुआ है। बना-सँवार कर (सम्भवत: कविता के रूप में) प्रस्तुत करने के लिये √तक्ष् का प्रयोग भी इसी प्रसङ्ग में सम्भवतः हुआ है[105]। √वद् का प्रयोग भी असकृत् हुआ है[106]।

---

[96] **. आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया।**

मनः कायाग्निमा-हन्ति; स प्रेरयति मारुतम्॥

मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्।

कण्ठे ..... . शीर्षषण्यं . . . . . ॥

सोदीर्णो, मूर्ध्न्यभि-हतो वक्त्रमा-पद्य मारुत: |

वर्णाञ्जनयते; तेषां वि-भाग: पञ्चधा स्मृतः ॥

स्वरत:, कालत:, स्थानात्, प्रयत्नानुप्रदानत: । पाणिनीय शिक्षा ६-१०॥

[97] **. कनिक्रदज्जनुषं प्र-ब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्** | २।४२।१ ॥

उप यो नमो नमसि स्तमायन्नियर्ति वाचं जनयन्यजध्यै। ४।२॥५ ॥

एष ग्रावेव जरिता त इन्द्रेयर्ति वाचं बृहदाशुषाणा: । ५।३६।४ ॥

हरि: सृजान: पथ्यामृतस्येयर्ति वाचमरितेव नावम्।

देवो देवानां गुह्यानि नामाऽऽविष्कृणोति बर्हिषि प्र-बाचे ॥ ९।९५।२ ॥

प्रेन्द्राग्निभ्याँ सु-वचस्यामियर्मि सिन्धाविव प्रेरयं नावमर्कैः ।१०।११६।९ ||

[98] **स्यूमना वाच उदियर्ति वह्निः** । १।११३।१७॥ द्र. पृष्ठ ७, टि. २।

[99] द्र. टि. १ में २।४२।१।

[100] द्र. टि. १ में ९।९५।२।

[101] द्र. टि. १ में १०।११६।९।

[102] ६. इस उपमा से इन लोगों का यही आशय प्रतीत होता है कि (क)जैसे नदी को अधिक-तम सरलता से नाव से पार किया जा सकता है, वैसे ही अपने अभिप्राय को भी वाक् के द्वारा ही सरल-तम ढंग से प्रकट क्रिया जा सकता है। (ख) जैसे पार पहुँचने में खिवैये (कर्ण-धार) का कौशल सुतराम् अपेक्षित होता है; उसके अभाव में नाव मँझ-धार में ही रह जायेगी; वैसे ही अपने आशय को सम्यक् प्रकट कर के काम निकालने में भी वक्ता के वाक्चातुर्य की नितान्त अपेक्षा है। (ग) नाव खेने का कौशल जैसे प्रयत्न से आता है, वैत्ते ही वाक्चातुर्य भी प्रयत्न से साध्य है।

[103] . द्र, पृष्ठ ११, टि. ८७-८८ में घृत ९।३३।४ तथा ५०।२॥

[104] . द्र, पृष्ठ ५, टि. २८ तथा ७।१०३।८ **: ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत**।

[105] **इमां ते वाचं वसूयन्त आयवो रथं न धीरः स्वपा अतक्षिषुः** ।१।१३०।६॥

निष्कर्ष : इन सब प्रयोगों के आधार पर यही कहा जा सकता है कि ध्वनि का उत्पादन प्रयत्न से होता है, ऋषियों की यही धारणा थी।

उच्चारण की प्रक्रिया : देवापि आर्ष्टि-षेण के अनुसार वाक् का अधिष्ठान "आस्य[107] है। अर्थात् वाक् 'आस्य, में उद्भूत होती है। यहाँ 'आस्य' का प्रयोग ध्यान देने योग्य है। निरुक्त में इसकी व्याख्या √अस् (फेंकना) से और आ+√स्यन्द् से की गई है[108]। पतञ्जलि ने √ अस्<आस्य की व्याख्या करते हुए कहा है कि वक्ता 'आस्य' से वर्णों का प्रक्षेपण करता है, अत: यह 'आस्य' है[109]। अर्थात् पतञ्जलि 'उच्चारण में विशेष उपयोगी होने से मुख-गह्वर का यह नाम पडा है', यह मानते है। यास्क की दूसरी व्याख्या में लार के द्वारा अन्न को गीला करने की विशेष सामर्थ्य तो स्पष्ट ही है, पर √अस् से उन्हें क्या तात्पर्य अभिप्रेत है, यह स्पष्ट नहीं है। दुर्गाचार्य ने इसके दो आशय बताए है : खाते समय इसमें अन्न डालने के कारण अथवा वर्णों को बाहर फेंकने के कारण यह 'आस्य' कहलाता है[110]। ऋग्वेद-सहिता में "आस्य' का प्रयोग कोई बाईस वार आया है। इनमें से छह वार इसका प्रयोग 'बोलने' के सन्दर्भ में हुआ है[111]। शेष सोलह से यह 'भक्षण' के सन्दर्भ में आया है[112]। ऐसी स्थिति में 'आस्य' की दोनों व्याख्यायें ऋग्वेदानुकूल हैं और भाषा के प्रसङ्ग में पतञ्जलि की व्याख्या उचित और मौजूँ प्रतीत होती है। अत: 'आस्य' से यहाँ मुख का वह गह्वर प्रतीत होता है, जहाँ आकर वायु वर्णों को अभिव्यक्त कर के बाहर की ओर सम्प्रेषित कर देता है। अत: 'आस्य' वाक् का अधि-ष्ठान है।

नेम भार्गव का कथन है कि वाक् अज्ञात अर्थों का अभि-धान करनी है[113]। गौतम राहूगण के कथन से विदित होता है कि वे वाक् का सम्बन्ध मन से मानते है[114]। अर्थात् मनन या विचार के विना वाक् की उत्पत्ति सम्भव नहीं है। अत: वाक् सब से पहले मन में सङ्कल्प के रूप में आती है। इस आशय की पुष्टि अन्य ऋषियों के कथनों से भी होती है : वाम-देव गौतम का कथन है कि वाणी हृदय- रूपी समुद्र से उद्भूत होती है। वह नदी के समान प्रवाह-शील होती है तथा हृदय के भीतर रहती हुई मन से छन फर बाहर आती है[115]। कुत्स आङ्गिरस के मत में वाक् मनीषा (मन से, मन की ओर, गति-शील है=मन का कहा करने वाली) है[116]। शश-कर्ण काण्व का कहना है कि मैं अश्वियों की स्तुति के साथ जगा हूँ हे देवि वाक्, तूने मेरी मति को प्रकट किया है[117]। अर्थात् ये ऋषि यह मानते हैं कि वाणी मन को ही खोलती है = पहले मन में सङ्कल्प होता है, फिर वाक् उसे प्रकट करती है। एक अन्य ऋषि का कथन है कि वाक् हृदय (गर्भ) में स्थित है। शब्द उसका बछड़ा है और वह मुख में स्थित है। गर्भ-स्थ वाक् का करण मन है, और मुख-स्थ वाक् का करण जिह्वा है[118]। वृहस्पति आङ्गिरस ने तो स्पष्ट रूप से उच्चारण की प्रक्रिया बताते हुए कहा कि बुद्धिमान् लोग मन से वाक् को छान कर

---

[106] . द्र. ७।१।१, ५, ६, ११।

[107] **दधामि ते द्युमतीं वाचमासन्। १ ०।९८।२।**

[108] द्र. १।९ : **आस्यमस्यते:। आ-स्यन्दत एतदन्नमिति वा।** निरुक्त के पांच अध्याय, पृष्ट ११५, ११७।

[109] द्र. महा-भाष्य १। १।९, पृष्ठ १९६ : **अस्यत्यनेन वर्णानित्यास्यम्**। अन्नमेतदास्यन्दत इति वाऽऽस्यम्।

[110] **आस्यमस्यते: क्षेपार्थस्य-क्षिप्यते ह्येतदाभि-मुख्येनान्नम्। क्षिपति वा वर्णान्।**

[111] द्र. १।१६६।११; ५।१८।४; १०।५३।११; ९४।२,९८।२-३।

[112] द्र. १।७५। १, ८४।१६, ३४।१० (४।४५।३); ३।२६।७; ४।४०।४; ५।६।९; ६।७।१; ८।१२।१३, ३९।३, ९६।३; ९।६९।२, ९९।३; १०।७३।३, ७६।६, ८७।२।

[113] .**वाग्वदन्त्यविचेतनानि।** ८। १ ००। १ ०॥

[114] . **विश्वस्य वाचमविदन्मनायो:**। १।९२। ९।

[115] .द्र. पृष्ठ ६, टि. १ ० . पृष्ट७, टि. १; एते अर्षन्त्यूर्मयो घृतस्य। ४।५८। ६॥

[116] द्र. पृष्ठ ५, टि. २८।

[117] द्र. पृष्ठ ३ टि. १३।

[118] .**गर्भे योषामदधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।** १०। ५३। १ १॥

बोलते है[119] । अर्थात् वाक् पहले मन में आती है और फिर शब्द के रूप में व्यक्त होती है । इसी प्रकार पत-ङ्ग प्राजापत्य ऋषि का कथन है कि वाक् को आत्मा (पतङ्ग) पहले मन से धारण करता है । मन वाक् को अपने अधीन रखने के कारण गन्धर्व (गो-वाक् को धारण करने वाला) है । मन का सङ्कल्प ही उच्चारण के द्वारा द्योतित होता है और कवि लोग उस की अभिव्यक्ति से उस की रक्षा करते हैं[120] । वाक् के उच्चरित होने से पूर्व के इस रूप के बारे में दीर्घ-तमस् औचथ्य का यह कथन है कि वाक् की तीन अवस्थाएँ उच्चारण से पूर्व होती हैं । ये अवस्थाएँ गुप्त हैं । इन्हें मनीषी लोग ही समझ सकते हैं । उच्चारण तो वाक् की चौथी अवस्था है[121] । विश्वामित्र गाथिन का कथन है कि धीर कवि अपने कथ्य का मन से भली-भाँति विचार करके उन्नयन (वर्णन) करते हैं[122] । अगस्त्य मैत्रा-वरुणि का कथन है कि उच्चारण के वाद वाक् द्यावा-पृथिवी के मध्य अर्थात् आकाश में फैल जाती है[123] । प्र-तर्दन दैवो दासि ने वाक् की लहर बताई है और उसकी उपमा नदी की लहर से दी है कि सोम स्तुति-वाक् (वाच: गिर:) की लहर को नदी (सिन्धु) के समान प्रेरित करता है[124] ।

वाक् का यह सारा व्यापार अर्थाभि-धान के लिए होता है। सु-पर्ण काण्व ऋषि ने वाणी के द्वारा प्रकट होने वाले अर्थ को "मधु की लहर" बताया है[125] । नेम भार्गव ने उसे अन्न (इषम्) और बल (ऊर्ज्) बताया है[126] । वाम-देव गौतम के मत में वाणी गाय और अर्थ उसका घृत प्रतीत होता है । वाणी से श्रोत्र-ग्राह्य घृत को प्रकट किया जाता है । इस वाक् के घृत (अर्थ) का निर्माण मनुष्य में ईश्वर द्वारा निहित स्वाभाविक शक्ति (स्व-धा) से ही होता है[127] । वृहस्पति आङ्गिरस के अनुसार अर्थ वाक् का फल और पुष्प है । पढे-लिखे (अर्थ समझने में समर्थ) लोगों के लिये तो वाणी दुधार गाय है और अन-पढ़ लाल-बुझक्कड़ भट्टाचार्यों के लिए सूख गाय है[128]।

---

[119] **सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।** (१०।७२।२॥

[120] **पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति, तां गन्धर्वो अवददगर्भे अन्त:।**

तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति ॥ १ ०। १७७।२॥

[121] **चत्वारि वाक्परि-मिता पदानि, तानि विदुर्बाह्मणा ये मनीषिण: ।**

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति, तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति । । १ । १ ६४।४५॥

सायण ने इसकी व्याख्या कई दृष्टियों से की है । उनमें से निम्नलिखित दृष्टि से की व्याख्या ही मन्त्र को सर्वांशेन लगा पाती है :

अपरे मातृका: प्रकारान्तरेण प्रति-पादयन्ति : परा, पश्यन्ती, मध्यमा,वैखरीति 'चत्वारीति । एकैव नादात्मिका वाङ्-मूलालाधारादुदिता सती परेत्युच्यते । नादस्य च सूक्ष्मत्वेन दुर्निरुपत्वात्सैव हृदय-गामिनी पाश्यन्तीत्युच्यते योगिभिर्द्रष्टुं शक्यत्वात्। सैव बुद्धिं गता, विवक्षां प्राप्ता। मध्यमेत्युच्यते मध्ये हृदयाख्य उदीय- मानत्वान्मध्यमाया: । अथ यदा सैव वक्त्रे स्थिता ताल्वोष्ठादि-व्यापारेण बहिर्निर्गच्छति, तदा वैखरीत्युच्यते। एवं 'चत्वारि वाच: पदानि परि-मितानि' । 'मनी-षिणो=मनस: स्वामिन:, स्वाधीन-मनस्का: । 'ब्राह्मणा:' =रवाख्यस्य शब्द- ब्रह्मणोऽधि-गन्तारो योगिन:। परादि चत्वारि पदानि 'विदुर'=जानन्ति। तेषु मध्ये त्रीणि परादीनि गुहा-निहितानि, हृदयान्तर्वर्तित्वात्। तुरीयं तु पदं वैखरी-सञ्ज्ञकं मनुष्या: सर्वे वदन्ति।

[122] **.युवा, सु-वासा:, परि-बीत आगात्; स उ श्रेयान्भवति जायमान: ।**

तं धीरास: कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्त:॥ ३।८।४ ॥

पुनन्ति धीरा अपसो मनीषा देव-या विप्र उदियर्ति वाचम् । ५ ।

[123] **क्रन्ददश्वो नयमानो रुवद् गौरन्तर्दूतो न रोदसी चरद्वाक्।** १।१७३ ।३॥

[124] **प्रावीविपद्वाच ऊर्मिं न सिन्धुर्गिर: सोम: पर्वमानो मनीषा:** । ९।९६।७।

[125] द्र. पृष्ट ७, टि. ५० ।

[126] . द्र. पृष्ट ६, टि. ३६ ।

[127] द्र. पृष्ट ८, टि. ६३ तया **वयं नाम प्र-ब्रवामा घृतस्या...उप ब्रह्मा श्रृणवच्छस्यमानम् ।** ४।५८।२॥

[128] द्र. पृष्ट ८, टि. ५५ ।

वाक् के घटक तत्त्व : दीर्घ-तमस औचथ्य ने वाक् की रचना 'अक्षर' से बताई है[129]। इन्हीं के कथन से विदित होता है कि 'अक्षर' शब्द 'न +√ क्षर्' के योग से बना है तथा इसका अर्थ है। क्षरित न होने वाला, अर्थात् अ-क्षय[130]। दीर्घ-तमस् के अनुसार "अ-क्षर' शब्द मूलत: सृष्टि के मूल उत्स का वाचक है, जो पर-वर्ती दार्शनिकों के 'ब्रह्म' के निकट का कोई तत्व है[131] । सम्भवत: वाणी के प्रसङ्ग में 'अक्षर' का अर्थ 'वर्ण' हो; क्योंकि वाक् का मूल वर्ण-ध्वनि ही'है। दीर्घ-तमस् का उपर्युक्त कथन 'सात वाणियों' के विषय में है। "सात वाणियों' का अर्थ, जैसा की हम पीछे देख चुके है, छन्द है। वैदिक छन्द स्वर,या व्यञ्जनारूढ स्वरों की सङ्ख्या पर निर्भर करते हैं, यह तथ्य विदित ही है। अत: प्रकृत में 'अक्षर' शब्द स्वर, या व्यञ्जनारूढ स्वर, अर्थात् अङ्गरेंजी के 'सिलेवल्' का पर्याय ही प्रतीत होता है। यह शब्द वाणी के पर्याय के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है, यह हम (पृष्ठ २ में) देख चुके हैं। यदि यहाँ उसे भी दृष्टि में रखें, तो इस कथन का निष्कर्ष यह निकलता है कि वाणी, अर्थात् वाक्, का घटक अक्षर (वर्ण) तत्त्व हैं, जिसके कारण वाक् स्वयं भी अक्षरा मानी गई है। यह अक्षर ध्वनि के रूप में है ,क्योंकि वाक् ध्वनि ही है। अत: दीर्घ-तमस् के अनुसार अक्षर अक्षय ध्वनि हैं। वाक् के रूप में उसकी अभिव्यक्ति मात्र होती हैं; उत्पत्ति, अर्थात् वाक् का न होने से होना, नहीं होता।

'अक्षर' शब्द' वर्ण अर्थ में हैं, इस कथन की पुष्टि दीर्घ-तमस् के एक अन्य कथन से भी होती है : अग्नि की प्रशंसा में इनका कहना है कि अग्नि हमारी "शुक्र-वर्णा" (= शुक्र = अच्छे, दीप्तिमान् वर्णों वाली) स्तुति को प्रेरित करता है[132] । यहाँ 'शुक्र-वर्णा' में 'वर्ण' से "अक्षर" को लेने में कोई बाधा नजर नहीं आती है स्तुति वाक् ही तो है। वर्णों की शक्रता से चमत्कार-युक्तता==नाद और अर्थ के सौंदर्य से युक्त होना अभिप्रेत हो सकता है। विश्वामित्र गाथिन ने भी इन्द्र का वर्णन करते हुए कहा है कि इन्द्र ने स्तोता की स्तुतियों को चेतना दी: उन्हें शुक्र वर्ण प्रदान किया[133] । नो-घस् गौतम ने वर्णों की इस प्रोज्जवलता को वस्त्र बुनने के एक सुन्दर रूपक से अन्य प्रकार से कहा है कि इन्द्र के वृत्र-वध के शौर्य-पूर्ण कार्य को देख कर उससे प्रभावित देव-पत्नियों ने इन्द्र की प्रशंसा-रूपी वस्त्र को बुना[134] । यहाँ भी "इन्द्र ने स्तोताओं को अपने शौर्य-युक्त चरित से इतना उत्सा-हित किया कि उनकी वाणी अत्यन्त उज्जवल वर्णों में प्रवाहित हो उठी।' यही कहना अभिप्रेत लगता है[135] । अत: 'वर्ण' और 'अक्षर' शब्द भाषा की ध्वनि की इकाइयों के वाचक ही प्रतीत होते हैं।

---

[129] **.गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम, त्रैष्टुभेन वाकम्।**

वाकेन वाकं द्वि-पदा, चतुष्पदा, ऽक्षरेण मिमते सप्त वाणी: ।। १। १६४।२४।।

[130] द्र. १।१६४।४२ : **तत: क्षरत्य-क्षरं तत्।**

[131] **ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे नि-षेदु:।**

यस्तन्न वेद, किंमृचा करिष्यति ? य इत्तद्विदुस्त इसे समासते।। १। १६४।३९।।

[132] **इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्र-वर्णामुदु नो यंसते धियम् ।।**१।१४३।७।।

[133] **अचेतयद्धिय इभा जरित्रे प्रेम वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्।।**३।३४।५ ।।

[134] **अस्मा इदु ग्नाश्चिद्देव-पत्नीरिन्द्रायाकमहि-हत्य ऊघु:।** १।६१।८ ।। तुलना करें अभिज्ञान-शकुन्तलम् ७।५:

विच्छित्ति-शैषै: सुर-सुन्दरीणां वर्णैरमी कल्प लताशुक्रेषु।

सञ्चिन्त्य गीति, क्षसमर्थ-बन्धं दिवौकसस्त्वच्चरितं लिखन्ति।।

[135] **महो महानि पतयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सु-कृता पुरूणि। ३।३४।६ ।**

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्य: सत्पतिश्चर्षणि-प्रा: ।

विवस्वत: सदने अस्य तानि विप्रा उक्तेभि: कवयो गृणन्ति ।।७।।

तुलना करें : **राम, तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।**

कोई कवि वन जाये, सहज संभाव्य है ।। साकेत ।।

अक्षरों से वाक् बनती है, यह कहा जा चुका है। विश्वामित्र गाथिन का कथन है कि नामों के द्वारा वाणी को सेवनीय बनाया गया[136]। इस कथन का आशय यह प्रतीत होता है कि 'अक्षर' और 'भाषा' इन दो छोरों के वीच में "नाम" है। अर्थात् अक्षरों से "नाम" बनते हैं, और उन से भाषा। इस प्रकार भाषा की सेवनीयता (सक्म्य) नामों' के द्वारा होती है। यहाँ 'नाम' शब्द 'पद-सामान्य=संज्ञापक" के लिए ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है; नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपातों में से अन्य-तम के लिए नहीं। इस अर्थ में 'नाम' का प्रयोग ऋग्वेद-संहिता में वृहदुक्थ वाम-देव्य[137] और वृहस्पति आङ्गिरस[138] के द्वारा किया अवश्य गया है। 'पद-सामान्य' अर्थ में 'नाम' का प्रयोग शत-पथ ब्राह्मण में भी किया गया है[139]। एक अन्य ऋषि का भी कथन है कि है कवियों, अमरता के लिए वाणियों के द्वारा प्रयास करो। तुम गुह्य पदों को बनाओ। तुम्हारे इस प्रकार करने से देवता अमर हो जाते हैं[140]। अर्थात् कवि लोग गहरे अर्थ वाले शब्दों के प्रयोग वाली वाणी के द्वारा अपने वर्ण्य को अमरता प्रदान कर देते हैं। यहाँ का 'पदा' शब्द विश्वामित्र गाथिन के "नाम" का सम-स्थानिक ही प्रतीत होता है।

विश्वामित्र के उपर्युक्त कथन का एक आशय और भी हो सकता है कि नामों से, अर्थात् शब्द-मय संज्ञाएँ रख कर, वाणी का आश्रय व्यवहार में सुभीते के लिए किया गया।

निष्कर्ष : ऋग्वेद-संहिता के अनुसार वर्णों, अर्थात् अक्षरों, से पद बनते हैं और उनसे वाक् बनती है।

भाषा का व्याकरण : कुछ मंत्रों से विदित होता है कि ऋचाओं के प्रणयन तक भाषा के व्याकरण का कार्य काफी आगे बढ चुका था। अर्थात् उस समय ऋषियों को शिष्ट मान कर उनकी भाषा के व्याकरण का प्रयास किया जा चुका था। वृहस्पति आङ्गिरस का कथन है कि वाक् के मार्ग को बुद्धिमान् लोगों ने खोजा और उसे ऋषियों में प्रविष्ट पाया। उसे ले कर उन्होंने उस का बहुत तरह से विश्लेषण किया। सातों स्तोता[141] उसी (व्याकृत वाक्) का प्रयोग अपनी स्तुतियों में करते हैं[142] 1 इसी प्रकार वाक् आम्भृणि ऋषिका का भी कथन है कि मैं (वाक्) शाशन करने वाली, धन प्राप्त कराने वाली, यज्ञ के विधि-विधानों को पहली समझने वाली हूँ। बहुत समय तक स्वयं टिकने बाली और बहुत लोगों को बसाने वाली मुझ (वाक्) को देवों ने विविध प्रकार से व्याकृत कर दिया[143]। वेङ्कट-माधव के अनुसार तो विश्वामित्र गाथिन का भी कहना है-कि इन्द्र ने अव्याकृत वाक् का व्याकरण कर दिया[144]। दीर्घ-

---

[136] **.तदिन्वस्य वृषभस्य धेनोरा नामभिर्ममिरे सक्म्यं गो:।** ३।३८।७।

[137] **.चत्वारि ते असुर्याणि नामा-दाभ्यानि महिषस्य सन्ति।** १०।५४।४

[138] . **वृहस्पते, प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नाम-धेयं दधाना:।** १०।७१।१॥

[139] . **त्रयं वा इदं- रूपं, कर्म। तेषां नाम्नां "वाग्" इत्येतदेषामुक्थम्; अतो हि सर्वाणि नामान्युतिष्ठन्ति। एतदेषां साम; एतद्धि सर्वैर्नामभि: समम्। एतदेषां ब्रह्म:; एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति।** (१४।४।४।१)।

[140] **. सतो नूनं कवय:, सं शिशीत, वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षय।**

विद्वास: पदा गुह्यानि कर्तन, येन देवासो अमृतत्वमानशु: ॥ १०।५३।१०॥

निरुक्त के पाँच अध्याय (४।१९) भी देखें।

[141] अर्थात् होतृ, मैत्रा-वरुण, ब्राह्मणाच्छंदसिन्, नेष्टृ, पोतृ, आग्नीध्र और अच्छा-वाक नामक ऋत्विज्। द्र. ऐतरेय ब्राह्मण २८।१, सायण-भाष्य, पृष्ठ ७०३।

[142] . **यज्ञेन वाच: पदवीयमायन्; तामन्वविदन्नृषिषु प्र-विष्टाम्।**

तामा- भृत्या व्यदधु: पुरु-त्रा; तां सप्त रेभा अभि सन्नवन्ते।। १०।७१।३॥

द्र. सायण: **अनन्तरं तां वाचमा-भृत्य=आ-हृत्य पुरु-त्रा=बहुषु देशेषु व्यदधुर्=व्यकार्षु: सर्वान्मनुष्यानध्यापयामासुरित्यर्थ:।**

[143] **अहं राष्ट्री, सङ्गमनी वसूनां, चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।**

तां मा देवा व्यदधु: पुरु-त्रा भूरि-स्थात्रां, भूर्यावेशयन्तीम्॥१०। १२५।३॥

[144] . **'नुनुदे वि वाच:।'** (३।३४।१०) पर भाष्य : **वाचश्चाव्या-कृता वि-नुनुदे= व्याचकार।**

तमस् औचथ्य के एक मन्त्र[145] की शाब्दिक आचार्यों की दृष्टि से व्याख्या करते हुए सायण का कथन है कि शब्दात्मक वाक् व्यापन करती है। घट आदि वस्तुओं का अभि-धान करने वाली वह एक पद वाली है[146]। अथवा व्याकृत न होने से एक ही अ-खण्ड अधि-ष्ठान वाली; अथवा एक ही रूप वाली, है। सुबन्त और तिङन्त के भेद से दो प्रकार के पदों वाली है। नाम, आख्यात, उप-सर्ग और निपात के भेद से चार पदों वाली है। सम्बोधन-समेत आठ विभक्तियों के भेद से वह आठ पदों वाली है और अव्यय पदों के साथ पूर्वोक्त आठ विभक्तियों को मिला कर वह नौ पदों वाली है'। अथवा नाभि-समेत उर:, कण्ठ आदि[147] नौ स्थानों में होती हुई, बाद में अनेक प्रकार से अभिव्यक्त हो जाती है। हृदय के छिद्र अर्थात् मूलाधार में अनेक आकारों से व्याप्त, अर्थात् अनेक प्रकार की ध्वनियों वाली, है[148]। सायण की यह व्याख्या निराधार नहीं प्रतीत होती। कुरुसुति काण्व ऋषि ने आठ पदों वाली और सायण के अनुसार नौ गांठों (या लडियों) वाली (नव-स्रक्ति) एवम् ऋत का स्पर्श करने वाली (यथार्थ वर्णन करने वाली) अपनी वाक् को इन्द्र से थोडा कम बताया है[149]। अर्थात् इतनी समर्थ वाक् भी इन्द्र का वर्णन पूरी तरह से नहीं कर सकती। इस मन्त्र के 'अष्टा-पदी' और नव-स्रक्ति' को वेङ्कट-माधव और सायण की व्याख्या आदेय नहीं प्रतीत होती। 'अष्टा-पदी' से "आठ विभक्तियों वाली' वाक् और नव-स्रक्ति' से पूर्वोक्त[150] 'मौलिक,' अथवा 'नौ स्थानों में सृष्ट, या सम्बद्ध" वाक् अर्थ लेना उचित होगा। वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि का कहना है कि मुझे वरुण ने बताया है कि अनश्वर वाक् (अ-घ्न्या) तीन-गुने सात (=इक्कीस) नामों को धारण करती है। अध्ययन में लीन अपने अन्ते-वासी को सिखाते हुए विद्वान्, मेधावी (वरुण) ने पद (शब्द) के रहस्यों को बताया[151]। वेंङ्कट-माधव ने यहाँ इक्कीस नामों से 'पृथिवी के निघण्टु-पठित इक्कीस पर्याय" अर्थ ले कर अ-घ्न्या से पृथिवी का वर्णन माना है[152]। परन्तु यह कथन ऐतिहासिक दृष्टि से ठीक नहीं प्रतीत होता: पर-कालीन निघण्टु में सङ्कलित नाम-सङ्ख्या की चर्चा उस से प्राचीन ही नहीं, अपितु 'संहिता' के सन्धान से भी प्राचीन ऋचा में मानना असङ्गत् है अत: यहाँ 'तीन-गुने सात नामों' से 'तीन वचनों वाली सात विभक्तियों से युक्त नाम पद' समझना कदा-चिद् उचित है[153]।

---

[145] **गौरीर्मिमाय सलिलानि तक्षत्येक- पदी द्वि-पदी, सा चतुष्पदी।**

अष्टा- पदी, नव-पदी बभूवुषी सहस्राक्षरा परमे व्योमन्॥ १। १ ६४।४ १।।

[146] . वैयाकरण इन्द्र के अनुसार अर्थ की अभि-धायक ध्वनि पद कहलाती है : **अर्थ: पदमैन्द्राणाम्** (निरुक्त १।२ पर दुर्ग)। इस दृष्टि से पद एक ही है। नाम, आख्यात् आदि भेद तो उस अर्थ के अवान्तर भेदों के आधार पर किये अवान्तर भेद हैं। द्र. 'निरुक्त-मीमांसा', पृष्ट १०४-५, १२७-१३२।

[147]. **अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर:, कण्ठ:, शिरस् तथा।**

जिह्वा-मूलं च, दन्ताश् च, नासिकौष्ठौ च, तालु च॥ पा. शिक्षा १३॥

[148] द्र. **सायण-भाष्य १। १ ६४।४१ : केचिदेवमाहुर्--गौरीर्==गरण- शीला शब्द-ब्रह्मात्मिका वाग्, मिमाय-माति। प्रसिद्धार्थे धातु:। प्रति-ष्ठितानि घटादि-द्रव्याणि तक्षती=तत्तद्वाचकत्वेन निष्पादयन्ती एक-पदी=अ-व्याकृतत्वेनैक-प्रतिष्ठाना, एक-रूपा वाऽत्मना। द्वि-पदी= सुप्तिङ्-भेदेन पादद्वयवती। चतुष्पदी= नामाख्यातोपसर्ग-निपात-भेदेन । अष्टा-पदी=आमन्त्रित-सहिताष्ट(-विभक्ति-) भेदेनाष्ट-पदी । नव-पदी बभूवुषी साव्ययैरुक्तैरष्टभिर्नव-पदी; अथवा स-नाभिकेषूर:-कण्ठादिषु नवसु पदेषु भवन्ती पश्चाद् बहुविधाभिव्यक्तिमुपेयुषी, परमे व्योमन्नुत्क्रुष्टे हृदयाकाशे मूलाधारे सहस्राक्षराऽनेकाकारेण व्याप्ताऽनेक-प्रकारा भवन्तीत्यर्थ:।**

[149] . **वाचमष्टा-पदीमहं नव-स्रक्तिमृत-स्पृशम्। इन्द्रात्परि तन्वं ममे**॥८।७६।२॥

[150] द्र. '३.**वाक् के गुण**।' पृष्ट ५, टि. २९॥

[151] . **उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रि:सप्त नामाऽघ्न्या बिभर्ति।**

विद्वान्पदस्य गुह्या न वोचद् युगाय विप्र उपराय शिक्षन्॥ ७।७८।४॥

[152] . द्र. भाष्य : त्रि: सप्त=एकविंशति नामानि काचिद् गौर्बिभर्तीति पृथिवी-माह, तस्याहि यास्क-पठितान्येक-विंशतिर्नामानि (द्र. निघण्टु १। १)। सायण ने इस व्याख्या की चर्चा भाष्य-कार का नाम दिये बिना उद्धृत की है : **अपर आह-गौ:=पृथिवी, तस्याश्च गौर्म्मा, ज्मे'ति पठितान्येक-विंशति-नामानीति।**

[153] द्र. 'निरुक्त के पाँच अध्याय' पृष्ट १८४।

वाम-देव गौतम के एक मन्त्र[154] की वैयाकरण-सम्मत[155] व्याख्या में आचार्य पतञ्जलि का कथन है कि शब्द-रुपी महान् देव के नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये चार सींग हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान ये तीन काल इसके पाद है नित्य और कार्य के भेद से दो प्रकार के शब्द इस के दो शिर है। सात विभक्तियाँ इस के सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों में बँधा होने से यह तीन तरह से बँधा हुआ है। (अर्थ की) वर्षा के कारण यह वृषभ है। यह मरण- धर्मा मनुष्यों में प्रविष्ट है[156]।

नाम-करण क्रिया के आधार पर : वृहदुक्थ वाम-देव्य ने इन्द्र का वर्णन करते हुए कहा है कि तुझ महान् के बल को प्रकट करने वाले (असुर्याणि) तथा न दबने वाले चार नाम हैं। तुम उन सब (नामों) को भली-भाँति जानते हो, जिन से हे प्रशस्त घन वाले, तुम ने कार्य किये हैं[157]। इस कथन से विदित होता है कि इन नामों का तथा इन से प्रकट होने वाले कार्यों का गहरा सम्बन्ध है। अर्थात् तत्तत् कार्य करने के कारण इन्द्र के अमुक- अमुक चार नाम[158] पड़े हैं। इससे सिध्द होता है कि वृहदुक्थ के मत में द्रव्य का कोई नाम पड़ने का आधार उस द्रव्य की कोई विशिष्ट क्रिया होती है।

खिल-रहित ऋग्वेद-संहिता में लगभग पौने सात सौ पदों की व्युत्पत्ति को स्पष्ट करने वाले बारह सौ चालीस जो प्रयोग हैं[159], उनसे भी यही पुष्ट होता है कि ऋषि 'नाम-करण पदार्थ की क्रिया के आधार पर होता है[160]', यह मानते थे।

भाषा-शिक्षण का तरीका : वसिष्ठ मैत्रा-वरुणि ने वर्षा के मौसम में एक के पीछे एक टर्राते हुए मेंढकों का वर्णन करते हुए कहा है किं वर्षा के बाद चित-रंगा (पृश्निः) मेंढक पीले रंग के दूसरे मेंढक से अपनी आवाज उसी प्रकार मिला रहा है, जैसे वाक् सीखता हुआ कोई छात्र (शिक्षमाणः) वाक् के जानकार की (शाक्त-स्य) वाक् को दुहराता है[161]। प्राचीन काल में शिक्षा मौखिक दी

---

[154] **चत्वारि शृङ्गा, त्रयो अस्य पादा, द्वे शीर्षे, सप्त हस्तासो अस्य।**

त्रि-धा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मार्त्याँ आ विवेश ॥ ४।५८।३।

[155] यास्क ने निरुक्त १ ३। ९ में इस मंत्र की अधि-यज्ञ व्याख्या की है : चार सींग=चार वेद, तीन पाद=तीन सवन , दो सिर=दक्षिणोत्तरायण, सात हाथ:=सात छन्द, तीन प्रकार से बँधा=मन्त्र, ब्राह्मण और कर्म की विधियों (कल्पों) से ।वृषभ=इच्छाओं की पूर्ति करने वाला सांढ यज्ञ, प्रातः, माध्यन्दिन और सायन्तन सवनों में ऋग्, यजु: और साम के रूप में शब्दायित (ऋत्विजों द्वारा))होता है।

[156] द्र. महा-भाष्य, पृष्ट १७ **: चत्वारि शृङ्गाणि=चत्वारि पद-जातानि नामाख्यातोपसर्ग-निपाताश्च । त्रयो अस्य पादास्=त्रय: काला भुत-भविष्यद्वर्तमाना: । द्वे शीर्षे=द्वौ शब्दात्मानौ नित्य:, कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य= सप्त विभक्तय:।त्रिधा बद्धस्= त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि, कण्ठे, शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीति= शब्दं करोति। कुत –एतत्? रौतिः शब्द-कर्मा। महो देवो मर्त्याँ आ-विवेशे'ति महान् देवः शब्दः। मर्त्या=मरण-धर्माणो मनुष्यास्, तानाविवेश।**

[157] . **चत्वारि ते असुर्याणि 'नामाऽदाभ्यानि महिषस्य सन्ति।**

त्वमङ्ग्, तानि विश्वानि वित्से, येभिः कर्माणि मघवञ्, चकर्थ। १ ०।५४।४।।

[158] छह मन्त्रों वाले इस सूक्त में इन्द्र के १ रक्षक, २-दासों का हन्ता,३ धनवान् और ४ दानी स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। इसमें "मघवन्' शब्द तीन बार और इन्द्र' शब्द चार वार आया है। इन्द्र के दातृत्व का वर्णन पहले' चौथे (√ मंह् से निष्पन्न 'महिष' शब्द से) और पाँचवे मन्त्र में किया गया है। बल के कार्यों का वर्णन १-२ मंत्रों में, ऐश्वर्य का १- ३, ५-६, अर्थात् छह में से पाँच, मंत्रों में किया गया है 1 इससे सङ्केत मिलता है कि ऋषि को इन्द्र के इन. चार कार्यों के आधार पर पड़े कोई चार नाम अभिप्रेत है। 'मघवन्' और इन्द्र' का प्रयोग तो ऋषि ने यहाँ किया ही है। इन्द्र का सब से बड़ा पराक्रम-कार्य वृत्र-वध है। अत:"वृत्र-हन्' तीसरा नाम हो सकता है। चौथा नाम चतुर्थ मन्त्र में पड़ा 'महिष' हो सकता है। इन्द्र के लिये सु-बहुश: प्रयुक्त 'वृषभ' शब्द भी इसी आशय को पुष्ट करता है। अत: इंद्र के चार 'नामों' से १ इन्द्र, २ मघवा, ३ वृत्र-हन् और ४ महिष अथवा वृषभ ये चार शब्द अभिप्रेत हो सकते हैं।

[159]इनकी चर्चा हम इस अध्याय के प्रारम्भ में ही कर चुके हैं तथा इनमें- से कुछ पर विस्तरेण विचार अगले अध्याय में करेंगे। खिल के ऐसे प्रयोगों को मिला-कर यह सङ्ख्या क्रमश: सात सौ पद और बारह सौ सत्तर प्रयोग है।

[160] 'नैरुक्तों का **'नामान्याख्यातजानि**।' सिद्धान्त इसी परम्परा पर आधारित है। द्र. निरुक्त-मीमांसा, पृष्ट २०७।

[161] **यदीमेनां उशतो अभ्य-वर्षीत् तृष्यावतः प्रावृष्यागतायाम्।**

जाती थी, यह तथ्य सु-विदित है। आज भी वेदाध्ययन में वेद-पाठी लोग इसी पद्धति को काम में लाते हैं। सङ्केत-ग्रहण की प्रक्रिया में उत्तम वृध्द और बालक (अधम वृध्द) में भाषा को सिखाने एवं सीखने में अनु-करण ही काम करता है। अत: वसिष्ठ के उपर्युक्त कथन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वाक् को सीखने का तरीका दूसरे को बोलते देख कर उसका अनु-करण करके स्वयं भी वैसे बोलना ही है।

उपसंहार : इस प्रकार हम ने देखा कि विश्व के इस प्राचीनतम साहित्य के प्रणेता भाषा-चिन्तन की दृष्टि से पर्याप्त जागरूक है। उनकी जागरूकता यों तो उनके अपने समय में इस विषय से सम्बद्ध ऊहापोहों, वाद-विवादों, तथा ग्रन्थों से ही अभिव्यक्त होती होगी, परन्तु कुछ झाँकी उनके स्तुति-साहित्य में भी दृष्टि-गोचर होती है। ये लोग भाषा-चिन्तन के दार्शनिक पक्ष के कई पहलुओं पर महत्व-पूर्ण दिशा देने में प्रथम हैं। उनमें से कुछ पहलुओं को स्पष्ट करने का प्रयास प्रकृत अध्याय में किया गया है।

अपने अध्येताओं से हम एक निवेदन और कर दें : ऋग्वेद-संहिता अपनी प्राचीनता के कारण भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से आज के अध्येता के लिये एक कठिन ग्रन्थ है। उस पर भी प्रकृत अध्ययन के लिए उस की व्यञ्जना को पकड़ना अत्यन्त आवश्यक है; अभिधा तो बहुत पीछे छूट जाती है। व्यञ्जना स्वयं का समर्पण स-हृदय को ही करती है तथा स-हृदय भी निर्भ्रान्त रूप से व्यञ्जना को सर्वतो-भावेन आत्म-सात् करने का दावा नहीं कर सकता। प्रकृत अध्ययन भी इस साहित्य की व्यञ्जना को पकडने में निर्भ्रान्त होने का दावा नहीं कर रहा है। अत: विद्वान् अध्येता इस से सह-मत या असह-मत होने में अपने विवेक और ज्ञान का सहारा अधिक मात्रा में लें। इस दिशा में यह एक विनम्र प्रयास है और मैं आशा करता हूँ किं स-हृदय विद्वान् इस दिशा को और अधिक प्रकाशित करेंगे।

अक्खली-कृत्या पितरं न पुत्रो अन्यो अन्यमुप वदन्तमेति॥ ७। १ ०३। ३॥

अन्यो अन्यमनु गृभ्णात्येनोरपां प्र-सर्गे यदमन्दिषाताम्।

मण्डूको यदभि-वृष्ट: कनिष्कन्पृश्नि: सम्पृङ्क्ते हरितेन वाचम्॥ ४॥

यदेषामन्यो अन्यस्य वाच शाक्तस्येव वदति शिक्षमाण: ॥ ५॥